प्रेमका सच्चा स्वरूप

आज परम दयालु परमात्माकी कृपासे प्रेमके सम्बन्धमें कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ। यद्यपि मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि प्रेमकी वास्तविक महिमापर वे ही पुरुष कुछ लिख सकते हैं, जो पवित्रतम भगवत्प्रेमके रस-समुद्रमें निमग्न हो चुके हों। प्रेमका विषय इतना गहन और कल्पनातीत है कि उसकी तहतक विद्वान् और ज्ञानी भी नहीं पहुँच सकते, फिर वाणी और लेखनीकी तो बात ही कौन-सी है ? शेष, महेश, गणेश एवं शुकदेव तथा नारद आदि, जो भगवान्‌के प्रेमियोंमें सर्वशिरोमणि समझे जाते हैं, वे भी जब प्रेम-तत्त्वका सम्यक् वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं, तब मुझ-जैसा साधारण मनुष्य तो किस गिनतीमें है ? अन्तःकरणमें जब प्रेम-रसकी बाढ़ आती है तब मनुष्यके सम्पूर्ण अंग पुलकित हो उठते हैं, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी रुक जाती है और नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगती है, शास्त्र और प्रेमी महात्माओंका ऐसा ही

कथन और अनुभव है। परन्तु यह सब प्रेमके बाहरी चिह्न हैं, इसीसे इनका भी वर्णन किया जा सकता है। हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ आनेपर जब प्रेमी उसमें डूब जाता है उस अवस्थाका वर्णन तो वह स्वयं भी नहीं कर सकता, फिर दूसरेकी तो सामर्थ्य ही क्या है ? श्रीराम और भरतके प्रेममिलनके प्रसंगमें गोसाईंजी महाराज अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं—

कहहु सुप्रेम प्रकट को करई।
केहि छाँया कवि-मति अनुसरई॥
कविहिं अरथ-आखर-बलु साँचा।
अनुहरि ताल गतिहिं नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत-रघुबरको।
जहँ न जाय मन बिधि-हरि-हरको॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती।
बाजु सुराग कि गाडरि-ताँती॥

ऐसी स्थितिमें मैं तो जो कुछ लिख रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये ही समझना चाहिये। त्रुटियोंके लिये प्रेमी सज्जन क्षमा करें!

प्रेमका तत्त्व परम रहस्यमय है। जिसने इस तत्त्वको पहचान लिया, वह तो प्रेममय ही बन गया। प्रेमके यथार्थ रहस्यको तो पूर्णरूपसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् श्रीवासुदेव ही जानते हैं अथवा थोड़ा-बहुत इसका ज्ञान उनके प्रेमी भक्तोंको है । इसीलिये उन निष्काम, प्रेमके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तोंकी गीतामें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्वयं प्रशंसा की है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
(७ । १७)

'उन (चार प्रकारके भक्तों) में भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य-प्रेम-भक्ति-सम्पन्न ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको अत्यन्त प्रिय है ।'

वास्तवमें प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है । जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, वह भगवान्‌को पा चुका । भगवान् प्रेममय हैं और भगवान् ही प्रेम करनेके योग्य हैं । अतएव चाहे जैसे भी हो, हमलोगोंको सब प्रकारसे भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम करनेकी कोशिश करनी चाहिये । यहाँ ये प्रश्न उठते हैं कि भगवान् कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है और उनमें प्रेम किस प्रकारसे किया जा सकता है ? इनका उत्तर संक्षेपमें यों समझना चाहिये कि वे सर्वव्यापक भगवान्

अमृतमय हैं, सुखस्वरूप हैं, और नित्य, सत्य, विज्ञान-आनन्दघन हैं, भगवान्ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४ । २७)

'अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य (सनातन) धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं ही हूँ अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं।' ऐसे परमात्मा समस्त भूतप्राणियोंके हृदयमें आत्मरूपसे निवास करते हैं। वे कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(गीता १० । २०)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ और समस्त भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' इस प्रकारसे परमात्माके स्वरूपको समझकर सर्वभूतस्थित परमात्माके साथ विशुद्ध प्रेम करना ही सच्चा प्रेम करना है। विश्वके सारे जीव परमात्माके निवास-स्थान हैं, इसका अनुभव कर सभीके साथ विशुद्ध प्रेम करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

जो पुरुष इस भगवत्प्रेमके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, उसका सभी प्राणियोंके साथ अपने आत्माके समान प्रेम हो जाता है, ऐसे प्रेमीकी प्रशंसा करते हुए भगवान्ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(गीता ६ । ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' अपनी सादृश्यतासे सम देखनेका यही अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य अपने शिर, हाथ, पैर और गुदा आदि अंगोंके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिके समान बर्ताव करता हुआ भी उनमें समानरूपसे आत्मभाव रखता है अर्थात् सारे अंगोंमें अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें समानभावसे देखना चाहिये। इस प्रकारके समत्वभावको प्राप्त भक्तका हृदय प्रेमसे सराबोर रहता है। वह केवल प्रेमकी ही दृष्टिसे सब ओर ताकना सीख जाता है, उसके हृदयमें किसीके भी साथ घृणा और द्वेषका लेश भी नहीं रहता। श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(ईश० ६)

'जो विद्वान् सर्वभूतोंको अपने आत्मासे भेदरहित देखता है और अपने आत्माको सर्वभूतोंमें देखता है, वह किसीकी भी निन्दा नहीं करता।'

दूसरा हो तो निन्दा करे, उसकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण संसार एक वासुदेवरूप ही हो जाता है। इस परम तत्त्वको न जाननेके कारण ही प्रायः मनुष्य राग-द्वेष करते हैं, तथा परमात्माको छोड़कर सांसारिक तुच्छ विषयभोगोंकी ओर दौड़ते हैं और बारंबार दुःखको प्राप्त होते हैं। मनुष्य जो स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें सुख समझकर प्रेम करते हैं, उन आपातरमणीय विषयोंमें उन्हें जो सुखकी प्रतीति होती है सो केवल भ्रान्तिसे होती है। वास्तवमें विषयोंमें सुख है ही नहीं, परन्तु जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे बिना ही हुए मरुभूमिमें जलकी प्रतीति होती है और प्यासे हरिण भ्रमसे उसकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें निराश होकर मर जाते हैं। ठीक इसी प्रकार सांसारिक मनुष्य संसारके पदार्थोंके पीछे सुखकी आशासे दौड़ते हुए जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही बिता देते हैं और असली नित्य परमात्म-सुखसे वञ्चित रह जाते हैं।

स्त्री-पुत्र-धन आदि पदार्थोंकी अपेक्षा मनुष्यको अपना जीवन अधिक प्रिय है, क्योंकि जीवनकी रक्षाके लिये मनुष्य स्त्री-पुत्र-धनादि सम्पूर्ण पदार्थोंको त्याग सकता है। इस जीवनसे भी आत्मा अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्माके लिये मनुष्य जीवनके त्यागकी भी इच्छा कर लेता है। विशेषरूपसे कष्टकी प्राप्ति होनेपर जब जीवन दुःखमय हो जाता है, तो मूर्खतासे वह आत्महत्या करनेके लिये अनेक प्रकारके प्रयत्न करता है एवं आत्माके यथार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण दुःख-नाशका वास्तविक उपाय न कर आत्म-सुखकी इच्छासे आत्मघात कर बैठता है और उसके फलस्वरूप घोर नरकोंको प्राप्तकर दुःख भोगता है। मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर आत्म-तत्त्वको बिना जाने चले जाना भी एक प्रकारसे आत्मघात ही है। आत्मघातीकी गतिका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईश० ३)

'जो मनुष्य आत्माके हनन करनेवाले हैं वे मरकर घोर अन्धकारसे आच्छादित आसुरी योनियोंको प्राप्त

होते हैं।' इस तत्त्वको समझकर मनुष्यको इस अज्ञान-कृत आत्मघातसे बचना चाहिये और आत्माकी उन्नति एवं मुक्तिके लिये उस परम पिता परमेश्वरसे परम प्रेम करना चाहिये जो सबके आत्मा हैं। परमेश्वरमें प्रेम होना ही विश्वमें प्रेम होना है और विश्वके समस्त प्राणियोंमें प्रेम ही भगवान्‌में प्रेम है, क्योंकि स्वयं परमात्मा ही सबके आत्मरूपसे विराजमान हैं।

सबसे प्रेम करनेका सहज उपाय है, स्वार्थ छोड़कर सेवा करना। 'स्वार्थ' शब्दसे केवल स्त्री-पुत्र-धन आदि ही नहीं समझने चाहिये; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, कीर्ति, सुन्दर लोकोंकी प्राप्ति आदि सभी कुछ स्वार्थके अन्तर्गत हैं। उन प्रेममूर्ति परमात्मासे प्रेमहीके लिये सेवा और प्रेम करना चाहिये। जो पुरुष परमात्मासे प्रेम करनेकी चेष्टा करते हैं, प्रेमस्वरूप परमात्मा उन प्रेमी पुरुषोंके अत्यन्त ही समीप हैं। विशुद्ध प्रेममें आकर्षण करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी चुम्बक आदि किसी भी पदार्थमें नहीं है। चुम्बक आदि पदार्थ तो केवल जडको ही टानते हैं, वे चेतनको नहीं खींच सकते। परन्तु यह प्रेम ऐसा अनोखा चुम्बक है जो साक्षात् चेतनस्वरूप परमेश्वरको भी खींचनेका सामर्थ्य रखता है। मित्रो! भगवान् अमूल्य वस्तु हैं, यद्यपि उनकी

प्राप्तिकी वास्तविक पूरी कीमत हो ही नहीं सकती तथापि वे प्रेमीको बहुत ही सस्तेमें मिल जाते हैं। जब मनुष्य भगवत्प्रेममें मत्त होकर अपने-आपको श्री-भगवान्‌के पावन चरणोंपर न्योछावर कर देता है—भगवत्प्रेमके लिये सहज ही परम उत्साहके साथ अपने प्राणोंको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हो जाता है तब भगवान् उसके प्रेमसे आकर्षित होकर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। प्रह्लादके लिये खम्भसे और गोपियोंके लिये मुरलीवनमें प्रकट होनेकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। क्या इस प्रकार भगवान्‌का मिल जाना बहुत ही सस्ता सौदा नहीं है ? कहाँ हम और कहाँ शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा; अरे, तुच्छ प्राणोंके बदले परमात्मा प्राप्त हो जायँ, तो और क्या चाहिये ? कविने कहा है—

जो सिर साटे हरि मिले, तो तेहि लीजे दौर।
ना जानौं या देरमें, गाँहक आवै और॥
सिर दीन्हें जो पाइये, देत न कीजै कानि।
सिर साटे हरि मिलै तो, लीजे सस्ता जानि॥
सबै रसायन हम किये, हरि-रस सम नहिं कोय।
रंचक घटमें संचरे, (तो) सब तन कंचन होय॥

प्रेमको पहचाननेवाले वह प्रभु केवल प्रेमको ही देखते हैं। जब मनुष्यका प्रेम अपने आत्मासे भी कहीं

बढ़कर भगवान्‌में हो जाता है—जब वह प्राणोंसहित अपने सारे अपनेपनको, लोक-परलोकको भगवान्‌के अर्पण करनेके लिये तैयार हो जाता है तब भगवान् उससे मिले बिना रह ही नहीं सकते। परन्तु प्रेम सच्चा होना चाहिये। झूठे प्रेमसे उन्हें कोई नहीं रिझा सकता।

कृष्ण कृष्ण सब ही कहै ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझैं नहीं, प्रेमी नन्दकिसोर॥

सच्चे प्रेमीके हाथ तो वह बिक जाते हैं। प्रेम ही भगवान्‌का मूल्य है। प्रेमके रहस्यको जाननेवाला पुरुष भगवान्‌को प्राप्त किये बिना कैसे रह सकता है! क्योंकि भगवान्‌के बिना वह अपने जीवनको व्यर्थ समझता है, फिर तुच्छ जीवनके मूल्यमें ही जब भगवान् मिलनेके लिये बाध्य हैं, तो वह कैसे देर कर सकता है? भगवान्-सरीखी अमूल्य वस्तुको इतनी-सी कीमतके लिये वह कैसे छोड़ सकता है! जो भगवान्‌के इस प्रेम-तत्त्व-को नहीं जानते वे मनुष्यरूपमें भी पशुके ही समान हैं। ऐसे ही पशुधर्मी मनुष्य संसारके सुख-विलास और भोगोंके लिये जीवन धारण करके मनुष्य-शरीरको कलंकित करते हुए व्यर्थ अपना जीवन नष्ट किया करते हैं। जो भाग्यवान् पुरुष भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर प्राण-त्याग कर देते हैं, उनको प्राण-त्याग करनेमें

कोई भी क्लेश नहीं होता। वे परम प्रसन्नता और अपार आनन्दके साथ प्रभुके चरणोंपर अपना शरीर अर्पण कर देते हैं। उस समय उनके हृदयमें आनन्दका जो दिव्य समुद्र उमड़ता है, सारे पाप-ताप, दुःख-कष्ट उसके अतल तलमें सदाके लिये डूब जाते हैं। हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादको बार-बार मृत्युके मुखमें डालकर अपार कष्ट पहुँचाये गये, परन्तु उनसे उसे तनिक-सा भी क्लेश नहीं हुआ। भगवान्‌के प्रेमके कारण परम आनन्दमें मग्न होकर वह सदा ही निर्भय बना रहा, उसके आनन्द और अभयकी स्थितिका वर्णन करना असम्भव है। प्रह्लादकी स्थितिका तो प्रह्लादको ही पता है, प्रह्लादजीकी जीवनी पढ़नेवाले मनुष्योंमें भी जब आनन्द, निर्भयता, ईश्वरमें प्रेम एवं विश्वासकी वृद्धि होती है तब स्वयं प्रह्लादकी श्रद्धा, प्रेम, शान्ति और निर्भयता आदि गुणोंका वर्णन तो कोई कैसे कर सकता है?

भगवान्‌का सच्चा प्रेमी भगवान्‌के सिवा और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता। भगवान्‌का चिन्तन भी वह भगवान्‌के प्रेमके लिये ही करता है। प्रेमके सिवा न तो वह भगवान्‌से ही कुछ चाहता है और न भगवान्‌के किसी प्रेमी भक्तसे ही। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंसे वह

जब कभी मिलता है तब प्रेममें मग्न हो जाता है और भगवत्प्रेम-रसकी प्राप्तिके लिये वह उनसे वैसे ही आकांक्षा करता है जैसे पपीहा बादलोंको देखकर स्वातीके बूँदकी आकांक्षासे बादलोंको अपनी टेकपर अड़ा हुआ मधुर स्वरसे 'पीव-पीव' पुकारा करता है। भगवत्-प्रेमका प्यासा प्रेमी भी महात्मारूपी बादलोंसे प्रेमरूपी स्वाती-बूँदके लिये मधुर स्वरसे विनय करता है। जैसे पपीहेका यह दृढ़ नियम है कि वह स्वाती-बूँदके अतिरिक्त भूमिपर पड़े हुए कैसे भी पवित्र गंगाजलकी कभी इच्छा नहीं करता। गोसाईंजी कहते हैं—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बारही बार।
तात न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर-धार॥
जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहिं।
सुरसरिहूको बारि, मरत न माँगेउ अरघ जल॥
सुनि रे तुलसीदास, प्यास पपीहहिं प्रेमकी।
परिहरि चारिउ मास, जो अँचवै जल स्वातिको॥

—वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुष भी प्रेमके सिवा तुच्छ सांसारिक पदार्थोंके भोगोंकी कभी इच्छा नहीं करता। यही उसका दृढ़ नियम है—सहज स्वभाव है।

सर्वत्र भगवत्के स्वरूपका चिन्तन करनेवाले पुरुषका भगवान्में इतना प्रेम हो जाता है कि वह क्षणमात्र

भी भगवान्‌के चिन्तनको भूल नहीं सकता। यदि किसी कारणवश भगवत्‌का चिन्तन छूट जाता है तो उसको ऐसी व्याकुलता होती है जैसे जलके विना मछलीको!

तदर्पिताखिलाचारिता
तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।
(नारद सू० १९)

देवर्षि नारदजी इसीको प्रेम-भक्ति बतलाते हैं। भगवत्प्रेममें मतवाला पुरुष जब प्रेममें मग्न हुआ फिरता है, तब उसकी कुछ विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपकी महिमा सुनकर प्रेमकी विह्वलताके कारण अपनी सुध-बुध भूल जाता है।

प्रेम-पियाला जिन्ह पिया, झूमत तिन्हके नैन।
नारायण वे रूप-मद, छके रहैं दिन रैन॥

प्रेम अधीन्यो छाक्यो डोलै,
क्योंकि क्योंही वाणी वोलै।
जैसे गोपी भूली देहा,
तैसो चाहे जासों नेहा॥
प्रीति कि रीति कछु नहिं राखत,
जाति न पाँति, नहीं कुलगारो।
प्रेमको नेम कहूँ नहिं दीसत,

लाज न कान लग्यो सब खारो ॥
लीन भयो हरिसूँ अभिअन्तर,
आठहुँ जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउक जानि सकै यह,
गोकुल गाँवको पैंडोहि न्यारो ॥

कहते हैं कि एक बार किसी प्रेमोन्मादिनी गोपीको यह शंका हो गयी थी कि श्रीकृष्णका मैं जो इतना ध्यान करती हूँ, सो कहीं ध्यान करते-करते स्वयं श्रीकृष्ण ही न बन जाऊँ। क्योंकि 'भ्रमर-कीट' न्यायसे ध्याता अपने ध्येयाकारमें परिणत हो जाया करता है। यदि ऐसा हुआ और मैं श्रीकृष्ण बन गयी तो फिर मुझे अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्णके साथ प्रेम-विलासका आनन्द कैसे मिलेगा ? एक दूसरी गोपीने उससे कहा कि 'इसके लिये तू चिन्ता न कर, श्रीकृष्णके ध्यानसे जब तू कृष्ण बन जायगी तो श्रीकृष्ण तेरे ध्यानसे गोपी बन जायँगे। प्रेमी-प्रेमास्पदका आनन्द ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। अतएव तू श्रीकृष्णके ध्यानमें ही निमग्न रह।'

प्रेमकी दशाका क्या वर्णन किया जाय ? प्रेमी अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपादिके संकेतमात्रसे इतना विह्वल हो जाता है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। श्याम रंगमें रँगी हुई गोपियाँ काले रंगके कौवे, कोयल, काजल, कोयले आदि पदार्थोंको देखते ही

या श्रीकृष्णके नामसे मिलते-जुलते नामोंको सुनते ही श्रीकृष्णके प्रेममें परम विह्वल हो जाती थीं। प्रेम-रसके छके हुए महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव पुरीमें समुद्रकी श्यामताको देख उसे श्यामसुन्दर समझकर पागल हो गये और तन, मनकी सुधि भुलाकर उसीमें कूद पड़े। तल्लीनतामें ऐसी ही स्थिति होती है।

भयबुद्धिसे भजनेवाले मारीचने कहा था कि मुझको श्रीरामका इतना भय लगता है कि जिन शब्दोंके आदिमें रकार हो, उन शब्दोंके सुननेमात्रसे श्रीराम मुझे अपने समीप खड़े दीखते हैं।

> राममेव सततं विभावये
> भीतभीत इव भोगराशितः।
> राजरत्नरमणीरथादिकं
> श्रोत्रयोर्यदि गतं भयं भवेत्॥
> (अ० रा० ३। ६। २२)

'राज, रत्न, रमणी, रथादिके शब्द यदि मेरे कानोंमें पड़ जाते हैं तो मुझे भय होता है, इसलिये भोग-राशिसे भयभीत हुआ-सा मैं निरन्तर रामका ही चिन्तन करता हूँ।'

> राम आगत इहेति शङ्कया
> बाह्यकार्यमपि सर्वमत्यजम्।

निद्रया परिवृतो यदा स्वपे
रामभेव मनसानुचिन्तयन् ॥
(अ० रा० ३ । ६ । २३)

'राम यहाँ आ गये हैं—इस शंकासे मैं बाहरके कार्योंको भी छोड़ देता हूँ। जब मैं निद्रासे घिरा हुआ सोता हूँ तो उस समय भी रामका ही चिन्तन करता हूँ।'

स्वप्नदृष्टिगतराघवं तदा
बोधितो विगतनिद्र आस्थितः।
तद्भवानपि विमुच्य चाग्रहं
राघवं प्रति गृहं प्रयाहि भोः ॥
(अ० रा० ३ । ६ । २४)

'मैं जब स्वप्नमें राघवको देखता हूँ तो जागकर निद्रारहित हो जाता हूँ इसलिये हे रावण! आप भी राघवके प्रति (मुझे भेजनेका) आग्रह त्यागकर घर चले जायँ।'

जब भयकी प्रेरणासे ऐसी दशा हो सकती है तब विशुद्ध प्रेमकी प्रेरणासे प्रेमास्पदके लिये वैसी दशा हो जानेमें क्या आश्चर्य है? अवश्य ही प्रेमका मार्ग है बड़ा ही गहन—बड़ा ही दुर्गम, तीक्ष्ण तलवारकी धारके समान! केवल बातें बनानेसे उसकी प्राप्ति नहीं होती। बाहरी भेष या चिह्नका नाम ही प्रेम नहीं है।

प्रेम प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न चीन्हे कोय।
जेहि प्रेमहिं साहिब मिले, प्रेम कहावे सोय॥

सच्चा प्रेम वही है जिससे स्वामी श्रीरामका मिलन हो जाय। वे राम मिलते हैं प्रेमभरी विरहकी व्याकुलतासे, करुणापूर्ण हृदयकी सच्ची पुकारसे, सच्ची श्रद्धा और भक्तिसे एवं सच्चे हृदयकी उत्कट इच्छासे। ये सब प्रेमके ही पर्याय हैं। मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्‌के विरहमें व्याकुल प्रेमीको अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के मिलनेका सन्देश मिलनेपर बड़ी ही मधुर अवस्था होती है। श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें सुतीक्ष्णजीके प्रेमकी महिमा दिखाते हुए कहा है—

पन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन।
यह बिचारि पुनि-पुनि मुनी, करत राम-गुन-गान॥

होइहिं सुफल आजु मम लोचन।
देखि बदन-पंकज भवमोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी।
कहि न जाय सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करे गुन गाई॥

अविरल प्रेम भक्ति मुनि पाई।
प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥

अहा! क्या ही अनोखे आनन्दका दृश्य है।

प्रेमी जब अपने प्रेमास्पदके विरहमें व्याकुल रहता है और प्रेमीके मिलनकी उत्कण्ठासे उसके आनेकी प्रतीक्षा करता है, उस समय उसे पल-पलमें अपने प्रेमास्पदके पैरोंकी आहट ही सुनायी देती है। कोई भी आता है तो उसे ,ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा प्रेमी ही आ रहा है। गोपियोंके पास जब उद्धव आये, तब उन्होंने यही समझा कि प्यारे श्रीकृष्ण ही पधारे हैं। बहुत समीप आनेपर ही वे यह जान सकीं कि ये श्रीकृष्ण नहीं हैं, उद्धव हैं; पर श्रीकृष्ण नहीं हैं तो क्या हुआ, ये प्राणप्यारे श्रीकृष्णका सन्देशा लेकर तो आये हैं, इसलिये ये भी श्रीकृष्णके समान प्यारे हैं। भागवतके दशम स्कन्धमें इस समयकी गोपिकाओंकी विचित्र दशाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन है।

श्रीकृष्णकी प्रियतमा रुक्मिणीजी भगवान्‌के विरहमें जैसी व्याकुल हुई थीं, भगवान्‌के पहुँचनेमें विलम्ब होनेपर श्रीरुक्मिणीजीकी जो करुणाजनक अवस्था हुई थी, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारिणी है। यह प्रसङ्ग प्रेमियोंको श्रीमद्भागवतमें देखना चाहिये।

भरतके विरहकी अवस्था रामायणके पाठकोंसे छिपी नहीं है। जब श्रीहनूमान्‌जी प्रभु श्रीरामजीका सन्देश लेकर आते हैं, तब भरतकी आश्चर्यमयी अवस्थाको देखकर वे भी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं। वहाँका वर्णन पढ़िये—

को तुम तात कहाँते आये।
मोहिं परम प्रिय बचन सुनाये॥
दीनबन्धु रघुपतिकर किंकर।
सुनत भरत भेंटे उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता।
नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते।
मिले आज मोहिं राम-सप्रीते॥
यहि सन्देश सरिस जग माहीं।
करि विचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

निज दास ज्यों रघुवंश भूषण
कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यौ,
सुनि भरत वचन विनीत अति
कपि पुलकि तनु चरननि पर्‌यौ।

रघुबीर निज मुख जासु गुनगन
कहत अग-जग-नाथ सो,
काहे न होहु विनीत परम
पुनीत सद्गुन सिन्धु सो।

राम प्रानप्रिय नाथ तुम, सत्य वचन मम तात।
पुनि-पुनि मिलत भरत सन, प्रेम न हृदय समात॥

अपने प्रेमास्पदद्वारा प्रेरित सन्देश पानेपर या प्रेमी-का कुछ भी समाचार मिलनेपर जब गोपी, रुक्मिणी और भरतकी-सी अवस्था होने लगे तब समझना चाहिये कि असली विरहकी उत्पत्ति हुई है।

अहा! कृष्ण-प्राणा मीराजीकी दशा देखिये। श्रीकृष्णनाममें रत, हरिके प्रेम-समुद्रमें डूबी हुई वह मतवाली प्रेमराती गाती है—

नातो नामको जी म्हाँस्यूँ,
तनक न तोड़्यो जाय॥
पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे,
लोग कहे पिंड रोग।
छाने लाँघण मैं किया रे,
राम मिलणके जोग॥
बावल वैद बुलाइया रे,

पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख वैद मरम नहिं जाणै,
कसक कलेजे माँह॥
जाओ वैद घर आपणे रे,
म्हारो नाम न लेय।
मैं तो दाझी विरहकी रे,
काहे कूँ औषध देय॥
मांस गल गल छीजियो रे,
करक रह्या गल आय।
आँगलियाँरी मूँदड़ी म्हारे,
आवण लागी बाँह॥
रह रह पापी पपीहरा रे,
पियको नाम न लेय।
जे कोई विरहण साँभले तो,
पिव कारण जिव देय॥
छिन मन्दिर छिन आँगणे रे,
छिन छिन ठाढ़ी होय।
घायल-सी झूमूँ खड़ी म्हारी,
व्यथा न बूझे कोय॥
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे,
कौआ तू ले जाय।

ज्याँ देशाँ म्हारो हरि वसै रे,
वाँ देखत तू खाय॥
म्हारे नातो रामको रे,
और न नातो कोय।
मीरा व्याकुल विरहणी रे,
(हरि) दर्शन दीज्यो मोय॥

यही विशुद्ध प्रेम श्रीपरमात्माका मूल्य है या यों समझिये कि यही परमात्माका स्वरूप है। ऐसे विशुद्ध प्रेमकी जितनी ही वृद्धि होती है उतना ही मनुष्य परमात्माके नजदीक पहुँचता है। जैसे सूर्य प्रकाशका समूह है, वैसे ही परमेश्वर प्रेमके समूह हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सूर्यके समीप जाता है त्यों-ही-त्यों क्रमशः प्रकाशकी वृद्धि होती जाती है, इसी प्रकार जब वह प्रेममय भगवान्‌के जितना ही समीप पहुँचता है, उतनी ही उसमें प्रेमकी वृद्धि होती है। या यों समझिये, ज्यों-ज्यों प्रेमकी वृद्धि होती है त्यों-ही-त्यों वह परमात्माके समीप पहुँचता है। जैसे सूर्य और प्रकाश दो वस्तु नहीं हैं, प्रकाश सूर्यका स्वरूप ही है, वैसे ही प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु नहीं हैं। प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है।

जब मनुष्य भगवत्-प्रेमके रंगमें रँग जाता है तब वह प्रेममय हो जाता है, उस समय प्रेम (भक्ति), प्रेमी (भक्त) और प्रेमास्पद भगवान् तीनों एक ही रूपमें परिणत हो एक ही वस्तु बन जाते हैं। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद कहनेके लिये ही तीन हैं, वास्तवमें तो वही एक वस्तु मानो तीन रूपोंमें प्रकट हो रही है। भगवान्के ज्ञानी, प्रेमी भक्त ऐसा ही कहा करते हैं। जब मनुष्य भगवान् वासुदेवके प्रेममें आत्यन्तिक रूपसे निमग्न हो जाता है, तब उसे सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र पद-पदमें भगवान् वासुदेव-ही-वासुदेव दीखते हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मुझको भजता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।' यही प्रेमका सच्चा स्वरूप है।

परमार्थ-ग्रन्थमालाकी कुछ मणियाँ

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग १)–श्रीजयदयालजी गोयन्दका,
पृष्ठ ३५०, मूल्य ॥=) सजिल्द ॥।-)
गुटका संस्करण–पृ० ४४८, मूल्य ।-) स० ।=)

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग २)–श्रीगोयन्दकाजीके लेखोंका
सचित्र संग्रह, पृ० ६३२, मूल्य ॥।=) स० १=)
गुटका संस्करण–पृष्ठ ७५०, मूल्य ।=) स० ॥)

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग ३)–श्रीजयदयालजी गोयन्दका-
के लेखोंका नया संग्रह मू० ॥≶) सजिल्द ॥।=)
गुटका संस्करण–पृष्ठ ५६०, मू० ।-) सजिल्द ।=)

मानव-धर्म–धर्मके दश प्रकारके भेद बड़ी सरल, सुबोध
भाषामें उदाहरणोंसहित समझाये हैं। मू० ≶)

साधन-पथ–इसमें साधन-पथके विघ्नों, उनके निवारणके
उपायोंका वर्णन है, पृष्ठ ७२, मूल्य =)॥

तुलसीदल–सचित्र, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके
लेखोंका संग्रह, पृ० २९२, मू० ॥) स० ॥≶)

परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१
कल्याणकारी पत्रोंका संग्रह, पृ० १४४, मू० ।)

नैवेद्य–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ और चुने हुए
लेखोंका संग्रह, पृ० ३५०, मू० ॥) स० ॥≶)

ईश्वर-लेखक–श्रीमालवीयजी, पृष्ठ ३२, मूल्य -)।